भावना : एक चिन्तन

डॉ. रञ्जन कुमार
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी...

जैन धर्म अपने मौलिक सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध रहा है। आज विश्व में कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, अहिंसाविचार, स्याद्वाद, नय-निक्षेप आदि कोई नया सिद्धांत नहीं है। जैनों का इन सब पर जो चिंतन हुआ है वह सब मानव को इस संसार रूपी महासमुद्र से पार होने का रास्तां बताता है। जैनपरंपरा में भावना या अणुप्रेक्षा के रूप में एक विचार का प्रतिपादन किया गया है। भावना या अणुप्रेक्षा व्यक्ति के शुभ विचारों की द्योतक है और जैनाचार्यो को यह विश्वास है कि इसके चिंतन से वह सांसारिक बंधन को कमजोर करता है तथा मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होता है।

मानव-मन सदैव चिंतन करता रहता है। चिंतन की इस स्थिति में उसके मन में नाना प्रकार के भाव उठते रहते हैं। इन भावों में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विचार होते हैं। सामान्य रूप से शुभ विचारों से व्यक्ति का इष्ट एवं अशुभ विचारों से अनिष्ट होता है। दार्शनिक या धार्मिक दृष्टि से जो विचार व्यक्ति के संसार-मोहभंग में सहायक होते हैं शुभ हैं तथा इसके विपरीत अशुभ। शुभ और अशुभ के निर्धारण का यही एक मानदण्ड नहीं है। इसके अन्य कई मानदण्ड हो सकते हैं, परंतु यहाँ हम इन समस्याओं की उलझन में न पड़कर जैन-दर्शन में प्रतिपादित 'भावना-विचारणा' पर प्रकाश डालेंगे।

भावना जिन-दर्शन की नैतिक विचारणा का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। मुख्य रूप से यह साधना के क्षेत्र से जुड़ी है, लेकिन इसका धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से भी महत्त्व है। जैनों का ऐसा मानना है कि यह मन का वह भावात्मक पहलू है जो साधक को उसकी वस्तुस्थिति का बोध कराता है। जैन-आचार का प्रतिपादन करने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रंथों यथा-आचारांग, दशवैकालिक, मूलाचारादि में इस पर व्यापक चिंतन किया गया है। बारसअणुवेक्खा, कार्तिकेयाणुप्रेक्षा, तत्त्वार्थसूत्र, ज्ञानार्णव जैसे महत्त्वपूर्ण दिगंबर-ग्रंथों में इस पर अलग से चिंतन किया गया है। श्वेताम्बर-परंपरा में प्रचलित प्रकीर्णकों में भी भावना - विचार पर सामग्री मिलती है।

जहाँ तक भावना के महत्त्व की बात है तो इसकी पुष्टि 'प्राकृतसूक्तिसरोज' के भावनाधिकार में उल्लिखित इस तथ्य से हो जाती है - दान, शील, तप एवं भावना के भेद से धर्म चार प्रकारका होता है, परंतु इन चतुर्विध धर्मों में भावना ही महाप्रभावशाली है। तात्पर्य यह है कि संसार में जितने भी सुकृत्य हैं, धर्म हैं उनमें केवल भावना ही सर्वप्रधान है। भावनाविहीन धर्म, धर्म नहीं, बल्कि शून्यता का द्योतक है। वास्तव में भावना ही परमार्थस्वरूप है। भाव ही धर्म का साधक है और महान तीर्थंकरों ने भाव को ही सम्यक्त्व का मूल मंत्र बताया है।[१] आगे सूक्ति-संग्रह में कहा गया है कि कोई व्यक्ति कितने ही दान करे चाहे समग्र जिन-प्रवचन को कण्ठस्थ कर ले, उग्र से उग्र तपस्या करे, भूमि पर शयन करे, दीर्घकाल तक मुनि धर्म का पालन करे, लेकिन यदि उसके मानस में भावनाओं की उद्भावना नहीं होती तो उसकी समस्त प्रक्रियाएँ उसी प्रकार निष्फल होती हैं, जिस प्रकार धान्य के छिलके का बोना निष्फल होता है।[२] तात्पर्य यह है कि खेत में धान की जगह अगर उसके छिलके को बोया जाएगा तो फसल उत्पन्न नहीं होगी, ठीक उसी प्रकार मनुष्य की समस्त सद्भावनाएं भावना के अभाव में उपयोगी नहीं रह जाती हैं।

भावना के संबंध में दिगंबर - आचार्य श्री कुंदकुंदजी का मानना है कि व्यक्ति चाहे श्रमण हो अथवा गृहस्थ, भाव ही उसके विकास में कारणभूत होता है। भावरहित श्रवण एवं अध्ययन करने से तब तक कोई लाभ नहीं होता, जब तक कि उनका भाव पूर्ण रूप से समझ में नहीं आए।[३] अर्थात् भाव को समझे बिना किसी तरह का प्रयास करना व्यर्थ है। जैन-आचार्यों की दृष्ट में भावनाएँ मोक्ष या कैवल्य प्राप्ति में सहायक होती हैं और वे व्यक्ति को मोक्षपथ की ओर बढ़ने में सोपान का कार्य करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना की उक्त चर्चा के बाद हमारे समक्ष एक प्रश्न उठ खड़ा होता है, कि भावना का यह चिंतन जैन - परंपरा में प्रतिपादित चार भावनाओं से है या बारह भावनाओं से। समाधान के रूप में यही निवेदन किया जा रहा है कि हमारा यह चिंतन बारह भावनाओं का है। वैसे भी प्रारंभ में हमने इस बात का उल्लेख किया है कि जैन-परंपरा में भावना या अणुप्रेक्षा का बहुत महत्त्व है। अणुप्रेक्षा से तात्पर्य बारह भावनाओं से है चार भावनाओं से नहीं। अब जब चार प्रकार की भावनाओं का प्रसंग उठा है तो इसका उल्लेख करना समीचीन जान पड़ता है, लेकिन यहाँ इतना ध्यान रखना होगा कि बारह भावना और चार भावना दोनों भिन्न-भिन्न अवधारणाएँ हैं।

जैन-ग्रंथों में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चारों को भावना कहा गया है।[४] यह मानव-मन की अवस्था है और इसे मानवता का गुण भी कहा जा सकता है, लेकिन जैनाचार्यो द्वारा प्रतिपादित बारह प्रकार की भावनाएँ अलग तथ्य हैं। ये मानव के गुण नहीं बल्कि उसके चिंतन या साधनात्मक अवस्था की परिचायक हैं। ये बारह भावनाएँ इस प्रकार हैं[५] - १. अनित्य-भावना, २. अशरण-भावना, ३. संसारभावना, ४. एकत्वभावना, ५. अन्यत्व-भावना, ६. अशुचिभावना, ७. आस्रव-भावना, ८. संवरभावना, ९. निर्जराभावना, १०. लोकभावना, ११. धर्म भावना एवं १२. बोधि-भावना। इन बारह भावनाओं का जैनाचार्यो ने उल्लेख किया ही है साथ ही साथ जैनेतर परंपराओं में भी इन पर चिंतन हुआ है । यथाप्रसंग उन्हें भी प्रस्तुत करने का हर संभव प्रयास किया जाएगा।

१. अनित्य-भावना - संसार के सभी पदार्थों को अनित्य, नाशवान्, क्षणभंगुर मानना ही अनित्य-भावना है। धन संपत्ति, अधिकार-वैभव ये सब क्षणभंगुर हैं। कालक्रम से संसार के समस्त पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। पदार्थ-का जो स्वरूप प्रातःकाल था, वह मध्याह्नकाल में नहीं रहता है और जो मध्याह्नकाल में था वह अपराह्नकाल में नहीं रहता है।

जैनाचार्यों का कहना है कि समग्र सांसारिक वैभव, इंद्रियाँ, रूप, यौवन, बल, आरोग्यादि सभी इंद्रधनुष के समान क्षणिक है, संयोगजन्य हैं। यही कारण है कि वे व्यक्ति को समग्र सांसारिक उपलब्धियों में आसक्त नहीं रहने का संदेश देते हैं, क्योंकि जो वस्तु अनित्य है, उसके प्रति राग या द्वेष का भाव रखने में कोई लाभ नहीं होता है।

उत्तराध्ययन में लिखा है कि मनुष्य का यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है और अशुचि से इसकी उत्पत्ति हुई है। इसमें जीव का निवास भी अशाश्वत है। यह शरीर दुःख एवं क्लेशों का भाजन है अर्थात् यह शरीर स्वभाव से ही अनित्य है। इस अनित्य शरीर की अपेक्षा से ही नित्य और शाश्वस्त जीव अनित्य एवं अशाश्वत जान पड़ता है। शारीरिक एवं मानसिक जितने भी क्लेश हैं, वे सब इस शरीर के आश्रय से ही हैं।[६] तात्पर्य यह है कि क्लेश उत्पन्न करने वाले शरीर के प्रति व्यक्ति को किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखना चाहिए, क्योंकि इससे व्यक्ति की सांसारिक वासनाओं के प्रति आस्था दृढ़ होती है और वह अपने कर्मबंधन को ज्यादा मजबूत बनाता है।

संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। एक क्षण ये किसी से जुड़ती हैं तो दूसरे क्षण उससे अलग भी हो जाती हैं। मरणविभत्ति में कहा गया है कि देव, सुर, असुर, सिद्धि, ऋद्धि, माता, पिता, पुत्र, पत्नी, बंधु, मित्र, भवन, उपवन, यान, वाहन, बल, वीर्य, रूप, यौवन, देहादि सब कुछ अनित्य है।[७] मनुष्य का यह शरीर जिस पर वह अभिमान करता है तथा जिसे सबसे अधिक प्रेम करता है वह भी क्षणिक है, अनित्य है। आचार्य शिवार्य अपनी कृति भगवतीआराधना में व्यक्ति के शरीर की उपमा फेन के बुलबुले से करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार फेन के बुलबुले बनते और नष्ट होते हैं ठीक उसी प्रकार यह मानव-शरीर उत्पन्न होता है एवं विनाश को प्राप्त करता है।[८] फेन के बुलबुले में हवा और पानी दोनों होते हैं। बुलबुले के अंदर हवा रहती है और जब तक इसका दाब बाहरी वायुमंडल के दाब के बराबर रहता है, बुलबुले का अस्तित्व बना रहता है। जब यह दाब वायुमंडलीय दाब से अधिक हो जाता है, तब बुलबुला फट जाता है और विनष्ट हो जाता है। बुलबुले के विनाश की प्रक्रिया अत्यल्प समयावधि में सम्पन्न हो जाती है। ठीक इसी प्रकार मानव-शरीर भी अत्यंत सीमित अवधि में समाप्त हो जाता है। अतः व्यक्ति को अत्यल्प समय में नष्ट होने वाले शरीर के प्रति न तो अभिमान करना चाहिए और न ही किसी प्रकार का राग - भाव ही रखना चाहिए।

यह शरीर नष्ट होने वाला है ऐसा जानकार जीव को किसी तरह का प्रमाद नहीं करना चाहिए। अपने जीवनकाल में उसे यह चिंतन करते रहना चाहिए कि हमारे शरीर की स्थिति यहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ समय के लिए है, जब इसका प्रयोजन पूर्ण हो जाएगा तब वह नष्ट हो जाएगा या कहीं और स्थानान्तरित भी हो सकता है। भावनायोग में इस भाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार पक्षी सुबह होने पर वृक्ष को छोड़कर अपने रास्ते की तरफ निकल पड़ता है, उसी प्रकार प्राणी भी अपनी आयु पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्मो के अनुसार अन्यान्य योनियों में उत्पन्न होता है।[९]

जैन-दर्शन में प्रतिपादित चतुर्गति रूप नारक-तिर्यंच-मनुष्य देव भी अनित्य भावना पर प्रकाश डालते हैं। जीव अपने कर्मों के अनुसार इन चारों गतियों में भ्रमण करता रहता है। कभी वह दुःख का अनुभव करता है तो कभी उसे सुख की प्राप्ति होती है। शरीर जब नाना प्रकार के रोगों से युक्त होता है, जरा-बुढ़ापा जब शरीर पर आक्रमण करना प्रारंभ कर देता है, तब जीव को दुःख का भान होता है, यद्यपि यौवनावस्था में स्वस्थ देह से युक्त होने पर उसे सुख की प्राप्ति सी होती है[१०] लेकिन ये सामान्य ज्ञान की बातें हैं क्योंकि व्यक्ति न तो निरंतर यौवनावस्था में स्थिर रहता है और न ही सदैव स्वस्थ ही। जरा एवं बुढ़ापा शरीर को प्राप्त होता ही है और उसे रोगक्रांत भी होना पड़ता है। सुख-दुःख, जरा, रोग आदि भी जीव को अनित्यता का पाठ पढ़ाते हैं।

जैनेतर परंपराओं में भी अनित्य भावना का उल्लेख मिलता है। महाभारत में अनित्य भावना का विवरण इस प्रकार दिया गया है - यह जीवन अनित्य है, पता नहीं इसका कब नाश हो जाए अतः इस अनित्य जीवन के प्रति किसी प्रकार का राग नहीं रखना चाहिए और जीवन को सफल बनाने वाले धर्म का आचरण युवावस्था में ही कर लेना चाहिए।[११] जीवन में सुख और दुःख भी अनित्य भावना पर प्रकाश डालते हैं[१२]।

जैनों के समान बौद्ध परंपरा में भी अनित्य-भावना पर चिंतन हुआ है। जिस प्रकार जैनों ने शरीर को अनित्य माना है और व्यक्ति को इसके प्रति राग-द्वेष भाव नहीं रखने का संदेश दिया है कमोबेश वही स्थिति बौद्ध-धर्म में भी है। संयुक्त - निकाय में बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध भिक्षुओं को अनित्य भावना के बारे में बताते हुए कहते हैं- भिक्षुओ! चक्षु अनित्य है, क्षोत्र अनित्य है, घ्राण अनित्य है, जिह्वा अनित्य है, काया अनित्य है, मन अनित्य है। जो अनित्य है वह दुःख है[१३]। धम्मपद में कहा गया है कि संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, इस तरह जब बुद्धिमान पुरुष जान जाता है, तब वह दुःख नहीं पाता। यही मार्ग विशुद्धि का है[१४]। अर्थात् अनित्यता को जानकर व्यक्ति दुःखों से मुक्त हो जाता है। दुःख से मुक्त होने का तात्पर्य यह है कि वह निर्वाण या मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

वर्तमान में व्यक्ति अनित्य-भावना को नहीं समझने के कारण ही व्यामोह में फँसा हुआ है। वह निरंतर अपने कर्मरजों को संचित कर रहा है और बंध को मजबूत करता जा रहा है। धन, ऐश्वर्य, हित, मित्र आदि के लिए चिंतित है। दूसरे शब्दों में कहें कि व्यक्ति की स्थिति आश्चर्यजनक एवं दयनीय है। उसका शरीर नित्य प्रतिदिन जीर्ण-शीर्ण होता चला जा रहा है, किन्तु उसकी आशाएँ बढ़ती ही जा रही हैं। आयुजल छीज रहा है किन्तु विचार मलिन होते चले जा रहे हैं। मोह-क्षेत्र अत्यंत रुचिकर बना हुआ है, परंतु आत्महित का ध्यान तक नहीं है।

धर्माचार्यों, दर्शनाचार्यों आदि ने अनित्यता के बारे में जो कुछ बताया है, उसे जानकर, समझकर जीव को यह विचार करना चाहिए कि अगर वे अपना कल्याण चाहते हैं तो शीघ्र ही प्रयास आरंभ कर दें, अन्यथा पश्चात्ताप के अतिरिक्त हाथ कुछ नहीं लगेगा, क्योंकि जो समय बीत चुका है, वह वापस नहीं आ सकता है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अनित्य सुख का परित्याग करके नित्य सुख को धारण करने की अभिलाषा एवं प्रयास करना चाहिए। इस संबंध में मुनिप्रवर श्री आत्मारामजी का कहना है कि पर्याय रूप से सभी पदार्थ अनित्यता से युक्त हैं तथा अनित्यता का संदेश दे रहे हैं अतएव व्यक्ति को मोक्षगत नित्यसुख की अभिलाषा करनी चाहिए तथा पौद्‌गलिक अनित्य सुखों का त्याग करके आत्मिक नित्य सुख में प्रवेश कर सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी का पद ग्रहण करते हुए निर्वाण पद को प्राप्त कर लेना चाहिए। अर्थात् विद्या तथा चारित्र द्वारा निष्कर्म होते हुए जन्म मरण से रहित होकर सिद्ध पद को प्राप्त कर लेना चाहिए[१५]।

इस तरह हम देखते हैं कि अनित्य-भावना साधना का एक ऐसा सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर साधक सिद्ध पद को प्राप्त कर सकता है। जैनों की मान्यता के अनुसार सिद्ध जन्म मरण से मुक्त होते हैं, अतः साधक भी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर परमसुख की अवस्था में रमण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. प्राकृतसूक्तिसरोज, भावनाधिकार, ३/१६

२. सूक्तिसंग्रह, ४१, वि.द्र. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार - दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, डॉ. सागरमल जैन, पृ. ४२३

३. भावपाहुड ६६

४. तत्त्वार्थसूत्र ७/६, योगशतक ७९, योगशास्त्र ४/११७

५. अद्धवमसरणमेगप्तभण्णसंसारलोपमसुइत्तं।

आसवसंवरणिज्जरधम्मंबोधिं च चितिज्ज।। भगवती-आराधना १७१०

६. इदं शरीरमनित्यम् अशुच्यशुचिसंभवम्।

अशाश्वतावासमिदं, दुःखक्लेशानां भाजनम्।। उत्तराध्यनसूत्र १९/१३

७. सव्वट्ठणाइं असासयाइं इह चेव देवलोगे च

सुर-असुर नराईणं रिद्धिविसेसा सुहाइं वा।। मरणविभत्ति ५१६

८. लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेव माणुसतिरिक्खो।

रिद्धिओ सव्वाओ सुविणयसंदेसणसमाओ।। भगवती-आराधना १७

९. प्रातस्तकं परित्यज्य यथेते यान्ति पत्रिणः।

स्वकर्मवशगाः शश्वत्तयेते क्वापि देहिनः।। भावनायोग ५

१०. वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम्।

ऐश्वर्यं च विनाशान्तं, मरणान्तं च जीवितम्। ज्ञानार्णव १

११. महाभारत, शांतिपर्व १७५/१६

१२. वाधनालक्षणं दुःखम्। न्यायसूत्र २१

१३. संयुत्तनिकाय ३४/१/१/१, पृष्ठ ४५१ (भाग-२)

१४. धम्मपद २७७

१५. भावनायोग पृ. ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org